

आलोचना प्रकृति और परिवेश



© डा० तारकनाथ शर्मा



प्रकाशक अक्षर प्रकाशन प्रा० लिमिटेड
२/३६, असारो रोड, हरियाणज, दिल्ली ६



मूल्य बारह रुपये



प्रथम संस्करण १९६६



आवरण नरेंद्र श्रीवास्तव



मुद्रक अप्रेशिया प्रिंटर्स,
६/१, बरेली न० २, आगरा ४



पुस्तकबन्ध अप्रेशिया ब्राइण्डर्स,
बरेली न० २, आगरा ४

डा० तारकनाथ बाली

आलोचनाः
प्रकृति और परिवेश

प्रिय टुन्नु,

बह शाम

जब तुम्हारा प्रिय गुलाम अन्तिम बार

गुसकड़ाया था

ज़िन्दगी पर छा गयी है

सब से

घरली माँ ने वे फूल नहीं उपजाये

जो तुम्हारे प्रिय हों !

दो शब्द

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में तथ्य-मवलन का काय विशेष मात्रा में हो चुका है। पुराने तथ्यों की कुछ नयी व्याख्याएँ भी हुई हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि नयी विचार-भूमियों की खोज की जाय। इसी दिशा में यह एक विनम्र प्रयास है।

दो शब्द

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में तथ्य-मवलन का काय विज्ञेय माना में हो चुका है। पुराने तथ्यों की कुछ नयी व्याख्याएँ भी हुई हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि नयी विचार-भूमियों की खोज की जाय। इसी दिशा में यह एक विनम्र प्रयास है।

	परिप्रेक्ष्य	१
एक	आलोचना का स्वरूप	३६
दो	आलोचना के हेतु—आलोचक का यत्नित्व	७२
तीन	आलोचना के प्रयोजन	८६
चार	आलोचना के प्रकार	११३
✓(क)	सद्वातिक आलोचना	११६
(ग)	व्यावहारिक आलोचना	१२४
(ग)	निर्णयात्मक आलोचना	१२५
(घ)	रचनात्मक आलोचना	१२६
(ङ)	‘यास्यात्मक’ आलोचना	१५०
१	सामाजिक आलोचना	१५३
	सद्वाति और द्वन्द्व	१५६
	परम्परा और प्रयोग	१७६
	भारतीय अद्वैतवादा	२०७
	हीगल	२१०
	शापनहावर	२१६
	‘सामाजिक’ आलोचना का	
	अथ प्रधान रूप मार्क्सवाद	२२०
	साहित्य और प्रचार	२२८
	सामाजिक आलोचना का	
	इतिहास प्रधान रूप तैल	२३३
	सामाजिक आलोचना का	
	नीति प्रधान रूप	२३६
	जीवनचरितात्मक आलोचना	२४२
	नैवैयार्थिक आलोचना	२४६
	फायर	२५१
	एल्फ्रेड एडलर	२५४
	कान गुम्टाव युग	२५५
४	रूपात्मक आलोचना	२५७
(च)	प्रभाववादी आलोचना	२६६
(छ)	साम्प्रतिक आलोचना	२७२
	उपसंहार	२८६

परिप्रेक्ष्य

साहित्य व्यक्ति का सामाजिक काम है जो विशिष्ट रूप में सम्पन्न होता है। साहित्य, सामाजिकता और रूप तीनों का प्रापण केन्द्र व्यक्तित्व प्रतीक होता है। इसलिए बुनियादी सवाल है व्यक्तित्व क्या है ?

व्यक्ति का सामाजिकता का विरोधी तत्व नहीं है। वह सामाजिकता का पूरक भी नहीं है। वह तो सामाजिकता का अंग है। समाज की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

समाज जीता है अगर उसका जीने का कोई मोपा-नरस रूप नहीं होता। समाज खोलता है, अगर उसकी खानी आसानी से समय में नहीं आती। कारण यह है कि उसकी आवाज प्रधान रूप से बर्षों की आवाज है, घटनाओं की आवाज है। और इस आवाज का हर कोई समझ नहीं सकता। वही व्यक्ति उसकी आवाज को समझ सकता है जो अपने आपको उससे मिला नेता है जो अपने व्यक्तित्व का समाज के प्रति समर्पित कर देता है। इसलिए हर समाज बर्षों का व्यक्तित्व समर्पित व्यक्तित्व होता है। समाज-बर्षों होने के नाते बर्षावार का व्यक्तित्व भी समर्पित व्यक्तित्व होता है।

समाज एक जटिल और विराट मय्या है। उसमें अनवरत विचार दृष्टियाँ और जीवन रीतियाँ होती हैं। जीवन की इन दृष्टियाँ और रीतियाँ में भिन्नता भी दिखायी देती है और विराट भी। इसलिए प्रायः एक व्यक्ति पूरे समाज के प्रति व्यक्तित्व का समर्पण नहीं करता। उसके एक अंग के प्रति ही उसका व्यक्तित्व समर्पित होता है। और फिर समाज का वह अंग उसके व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होता है, रूप धारण करता है। जो व्यक्ति जिनकी व्यापक सामाजिकता को रूप प्रदान करता है, उसका व्यक्तित्व उतना ही गौरवशाली और स्थायी होता है।

मानव-स्वभाव के दो अंग हैं। एक प्राकृतिक और निजी अंग है, दूसरा सामाजिक अंग है। समय आदि प्राकृतिक भूगर्भ की समष्टि ही निजी अंग है। सामाजिक अंग में व्यक्ति का भाग सामाजिक व्यवहार—वह व्यवहार जो वह समाज के प्रति करता है तथा वह व्यवहार जिसके माध्यम सामाजिक दायित्व

जुड़ा हुआ है सम्मिलित है। यहाँ देखना यह है कि मानव-स्वभाव व निजी अर्थ और सामाजिक अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

वास्तव में 'यकित्व' का निजी अर्थ और सामाजिक अर्थ का स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं। दोनों सम्बद्ध हैं। दोनों की सम्बद्धता की व्यवस्था में ही 'यकित्व' स्थित होता है। यह विशेषण 'बाह्यारिक सुविधा' व 'लिए' व 'चारिक' धरातल पर किया गया है।

बेकम आदि प्राकृतिक भूखें निजी अर्थ के अन्तर्गत मानी गयी हैं। लेकिन क्या आज की जटिल सामाजिक व्यवस्था में रहने वाला व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि सक्क की तृप्ति उसका बिल्कुल निजी व्यापार है जो समाज से अलग है ? यह स्पष्ट है कि एक नामल व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता। मक्क की तृप्ति चाहे उम्कन प्रणय सम्बन्ध द्वारा हो चाहे विवाह द्वारा दोनों परिस्थितियाँ में उम्कन एक सामाजिक पक्ष होता है। उम्कन प्रेम के उम्कन व मूल में भी कुछ सामाजिक कारण होते हैं। उम्कने कुछ सामाजिक प्रभाव पड़ते हैं और इस प्रकार यथाय में वह प्रेम उम्कन नहीं हुआ करता। जहाँ तक विवाह का मवाल है वह तो एक सामाजिक म्मथा है जिसने कई पक्ष और आयाम हैं और इस प्रकार विवाह सक्क की तृप्ति करता हुआ भी एक सामाजिक कर्म है।

पेट भरने की समम्मा का ही लीजिए। भूख एक प्राकृतिक वृत्ति है। लेकिन भूख का दूर करने के लिए आज का मनुष्य जो कार्य करता है वह सामाजिक कार्य है। वह चोरी के द्वारा भी पेट भर सकता है और किसी काम धंधे के द्वारा भी। ये दोनों ही कम भूख को तृप्त करते हैं मगर उनका अपना एक सामाजिक रूप है। चोरी या नौकरी दोनों ही सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले व्यापार हैं और फिर प्रत्येक व्यापार व अपन सम्बन्ध है जो उम्कन अर्थ सामाजिक म्मथाओं आवश्यकताओं या सीमाओं व माध्यमों में है। इस प्रकार एक मूल प्राकृतिक भूख—पेट की भूख को तृप्त करने के लिए जो कर्म किया जाता है वह समस्त सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है उस रूप देना है और उम्कने द्वारा नियन्त्रित होता है।

उसी प्रकार व्यक्ति के छोटे से छोटे कार्य की सीमासा करके यह कहा जा सकता है कि उम्कन व सभा कर्म जो निजी प्राकृतिक भूखा या आवश्यकताओं की तृप्ति या पूर्ति करने के वास्तव में यकन रूप में सामाजिक कर्म बन जाते हैं।

यक्ति के स्वभाव का सामाजिक अर्थ अन्वयन उम्कन निजी अर्थ का ही विरहित रूप है। यहाँ यह सवाल पड़ा होता है कि निजी अर्थ से सामाजिक अर्थ का जो विकास होता है उम्कन स्वरूप क्या है उसका आधार क्या है ?

बहानी है। आदिम युग में जब मनुष्य पशुओं व समान रहता होगा तो वह केवल निजी प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करता रहा होगा। जल-जंगल मनुष्य में विवेक का उत्पन्न हुआ, मगधन का विकास हुआ उत्पादन व नव साधना का ज्ञान और उनको व्यवस्था हुई, वैसे ही वैसे उसने निजी अर्थ का सामाजीकरण होता चला गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हम विकास का रूप मानव मध्यता की अवस्था व अनुसूच ही होगा।

साहित्य और कला का उदय तब हुआ जब मानव मध्यता काही विकास कर चुकी थी। इसीलिए कला का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में जीवन की मूल मूल्यों के साथ स्थापित नहीं किया जा सकता। कला का जन्म उस समय हुआ जब मूल मानव वस्तुओं व ऊपर विवेक का उत्पन्न हो चुका था। धन ही नहीं, विवेक व मायम में विविध वृत्तियों का मया हो रहा था और मानव पशुजीवन व स्तर में ऊपर उठ चुका था। फिर हम साहित्य में स्थायी भाव कहेंगे, आज उनका मनावनाम परीक्षण किया जा रहा है और यह माना जा रहा है कि स्थायी भाव वास्तव में काट इकाई नहीं है बल्कि अनेक मूल मानव-वस्तुओं की समष्टि है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि चेतना के विकास की प्रक्रिया का एक आयाम है विविध वृत्तियों व सम्मिलित रूप का उद्भव जिसे रति आदि भाव व रूप में स्वीकार किया गया। यही वह अवस्था है जब वाच्य आदि कलाओं के आरम्भिक—आदिम नहीं—रूप का विकास हुआ होगा।

पहले यह दिग्दर्शन की जा चुकी है कि मानव के उन बर्णों का भी सामाजिक आयाम लेना है जिनका उद्देश्य सबम आदि मूल वस्तुओं की तुष्टि है। यह भी स्पष्ट है कि जब मानव मध्यता के उस स्तर पर पहुँचा होगा जबकि स्थायी भावों की मजबूती उत्पन्न हुई होगी तो स्थायी भावों की मूल्य का माग भी सामाजिकता के बीच ही अप्रमत्त होना होगा। आज तब रति आदि स्थायी भावों की मूल्य निजा हान हुए भी सामाजिकता की व्यवस्था या अव्यवस्था का छूती है। उनका समाज पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव निश्चित रूप में पड़ता है। वही वह हल्का होता है वहीँ गहरा। यह ज्ञान मूल्य व वस्तु व विविध आयामों और मन्दर्भा पर निर्भर करता है।

अब दबता यह है कि जब स्थायी भाव आदि की अभिव्यक्ति साहित्य व रूप में होती है तो उसका सम्बन्ध का स्वरूप क्या होता है। आज की जागरूकता की स्थिति दखत हुए स्पष्ट है कि एक धारा इस मन्दर्भ की सामाजिकता को स्वीकार करती है और दूसरी धारा उस सामाजिकता को विलुप्त अव्यवस्था करती है। बात सिर्फ यही तब नहीं है। नया विचारधारा का एक रूप तो साहित्य व प्रेम में स्थायी भाव, आनन्द, रस आदि की मत्ता का ही अव्यवस्था करना है। इसलिए इस प्रश्न पर सावधानता से विचार होना चाहिए।

पहल यह कहा जा चुका है कि व्यक्ति के ये सब कम जो निजी वही या समने जात ह बान्धव म सामाजिकता स अछूत नही होत । मच ता यह है कि निजीपन कम की प्रक्रिया म पडकर सामाजिकता की जपेट म आ जाना है । दसलिए निजीपन और सामाजिकता का जाडन वासा बडा है कम । कम हो बह माध्यम है जिसम निजता और सामाजिकता का मिलन बिन्दु स्थित है । सामाजिकता कम के अलगुठन म निपटा हुआ स्वाय हा ह । दाता म कोई विरोध नही है । जा स्वाय और सामाजिकता दोना म तटस्थ हो जाता है या जा दोना म म बिसा एक ब चक्कर म पकर घूमने लगता है, उस दाता अलग-अलग दिखायी दत हैं या दोना म विराध दिखाया दता है या दोना म म मिक एक ही दिखायी दता ह ।

इम सम्बन्ध म एक अय भ्रान्ति का भी प्रचार हा रहा है । भाव और विचार दाता को दो विरोधी तत्वा के रूप म स्वीकार किया जाना है । इनका अलग-अलग तार्किक तथा विराध स्वाभाविक समझा जाना है । इसलिए या ता रचना भाववादी मानी जाती है या विचारवादी या बौद्धिक । आज क बौद्धिक युग म भाववादी कायधारा का कोई महत्त्व नही माना जाता और उमे मरा हुआ मान लिया जाना है । लेकिन यह भा एक भ्रान्त धारणा है । यह भ्रान्ति बचन वाक्य या आलोचना के क्षत्र की नही है बरन और भी गहरी है । उस गहराई तन जान का कोशिश नहा की जाती । नताजा यह हाता है कि न ता समस्या को ठीक स समझा जाता है और न ही समाधान का ठाम आधार पर रना जा सकता है । और आलोचना एक सगत व्यवस्था न बनकर उभिनया तथा बचनवा का जमघट बन जाती है । आज की अधिकांश आलोचना बचनवा का जमघट हा है । और उसका एक मुख्य कारण यह है कि जातचना का जावन म अलग बरक रखा जाना है ।

पश्चिम म जापुनिक काल म जो दात का विकास हुआ उसम पहना धारा बुद्धिवादा धारा थी और उम धारा क दाशनिक बुद्धिवादी माने जाते हैं । उसकी प्रतिक्रिया हुई और बगमा आदि ने बुद्धिवाद का विरोध किया और भाववाद की प्रतिष्ठा की । इस ऐतिहासिक भ्रम के दम म पडकर बुद्धि और हृदय विचार और भाव म इन तथा विरोध माना जान लगा ।

मचार्य तो यह है कि भाव और विचार दो अलग अलग तत्त्व हैं ही नहा । ये कोई हवाई सनापि नही हैं । ब ता एक समग्र परिस्थिति क लक्षण है किमी व्यापार या मटना क अविभाज्य अंग हैं । बिना उम समग्र परिस्थिति क न ता भाव की कोई मत्ता है और न हा विचार का । दाता मयुक्त रूप म परिस्थिति का विशिष्ट करत हैं । यह तो हो सकता है कि काई परिस्थिति भाव प्रधान हा और काई विचार प्रधान । लेकिन गया ना सम्भव हा नही

है कि किमा परिस्थिति में विनोद भाव है और किमी में विनोद विचार। या कोई परिस्थिति पूणत भावशून्य है और कोई पूणत विचारशून्य। बिना विचार के भाव अधा है। बिना भाव के विचार अपाहित्र है। दाना ही स्थितियाँ आराध-नुमुख के समान हैं और नामत जीवन में दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

मून बात तो यह है कि चाह भाव है चाह विचार दाना या आधार परिस्थिति हानी है। वे परिस्थिति में भिन्न कोई तथ्य नहीं हैं। इसलिए भाव तथा विचार पर के सम्बन्ध पर विचार करने के लिए हम उनके आधार के मध्य का ध्यान रखना चाहिए। इसी मध्य में उन पर विचार हो सकता है। अगर मन्दम से बढ़कर विचार किया जाएगा तो अन्त समझाएँ तथा और भी अन्त समाधान सामने आने लगेंगे। इसलिए भाव और विचार के स्वरूप तथा सामान्य पर विचार करने के लिए गहरे विवेचन की आवश्यकता है। और इस मूलम विवेचन का सगल आधार है परिस्थिति जो कि भाव या विचार का रूप देती है।

इस विवेचन के विरोध में यह कहा जा सकता है कि दर्शन में तो तब की प्रधानता हानी है। वहाँ भाव के लिए वहाँ अवकाश है? जो व्यक्ति भारतीय दार्शनिक परम्परा का समझता है उसके लिए इस प्रश्न का उत्तर पाना कठिन नहीं होगा। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

यह तो सभी जानते हैं कि गङ्गाधर का अद्वैतवाद दर्शन का वह रूप है जिसमें ज्ञान ही प्रमुख है। वहाँ तब कि उसमें अस्मि का भी माया ही माना गया है। सवाल उठता है कि क्या अद्वैतवाद सचमुच भावशून्य है? वास्तव में ऐसा नहीं है। भाव का होना जरूरी है। बिना भाव के अद्वैत का ज्ञानमान व्यर्थ है। यह तो वाक्य ज्ञान है और वाक्य ज्ञान हर कोई प्राप्त कर सकता है। वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावे कोई। इसीलिए गङ्गाधर का भी कहा है कि जब ब्रह्म ज्ञान का अनुभव में अवसान होगा, तभी मोक्ष का सिद्धि होगी—अनुभवावगमानत्वात् ब्रह्मज्ञानम्। अब विचार कीजिए कि यह अनुभव क्या है? यह अनुभव तभी होगा जब कि विचार का ध्यान किया जाएगा, उस पर निष्ठा होगी, उसके साथ सामान्य सम्बन्ध होगा, जब उस अनुभूति का या भाव का विषय बनाया जावेगा। बिना अनुभूति के अद्वैत ज्ञान व्यर्थ है। इसलिए विचार अपने अत्यन्त शुद्ध और नीरम रूप में भी तभी मायक हो सकता है जब उसके प्रति सामान्य सम्पण होगा। बिना इस राग बन्ध के विचार व्यर्थ है। इसलिए विचार तभी सिद्ध होगा जब उसके साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जायगा। यही विचार का भावात्मक सम्बन्ध है।

सभी भाव या तो आसक्तिमूलक होते हैं या चिरविमूढक। जहाँ आसक्ति

या विरक्ति का सम्बन्ध होगा वही भाव की स्थिति मानी जायगी। एक बात तो स्पष्ट है। आसक्ति या विरक्ति कोई विचार तो है नहीं। वे तो विचार के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएँ जो उमका वृत्तियाँ की जगाती हैं और जसी वृत्तियाँ हाती हैं उनका अनुरूप ही विचार में आसक्ति या विचार में विरक्ति होनी है। आसक्ति या विरक्ति ही विचार का भावात्मक सम्बन्ध है जो उस व्यक्ति की चेतना का दायरे में बाधित है।

एक ऐसा स्थिति का सत्ता भी मानी जानी है जो आसक्ति और विरक्ति का स्तर से ऊँचा है। गाता में वर्णित स्थितप्रज्ञ की स्थिति ऐसी स्थिति कही जा सकता है जहाँ दुःख में मन उद्विग्न नहीं होना सुख में स्पृहा नहीं होनी और जो स्थिति राग, भय और शोक में अज्ञात है। लेकिन यह स्थिति भी अनुभूति शून्य नहीं है। यहाँ भी आसक्ति है। यह आसक्ति उस उच्च स्थिति का प्रति है जो स्थितप्रज्ञ की अवस्था है और जहाँ ईश्वर का प्रति निष्ठा और श्रद्धा है। विचार तथा साधक का सत्ता है जब कि उसका प्रति कोई रागात्मक सम्बन्ध हो।

पश्चिम का दशन प्रायः बौद्धिक लिलवाड के रूप में रहा। वह प्रायः साधना से शून्य हुआ करता था। इसलिये साधना का अभाव न विचार और भाव का द्वैत और मध्यम का लिए अनुकूल भूमि उपस्थित कर दी।

इसी प्रकार विष्णु भाव की भी कोई स्थिति नहीं हो सकती। भाव किसी परिस्थिति में उत्पन्न होता है और भाव की सत्ता परिस्थिति की सगति पर आधारित होता है। परिस्थिति का एक रूप होता है एक याजना हाती है एक व्यवस्था होती है जिसमें सगति होती है जो विचार का अनुकूल हाती है जो बुद्धि के लिए अन्विता होती है। रति शोक आदि भाव वही उदित होते हैं यहाँ एक क्रमबद्ध सगति परिस्थिति है। यदि इस परिस्थिति में सगति नहीं है यदि वह विचार का अग्रणी है तो वहाँ भाव की स्थिति सम्भव नहीं है। जब वाक्यशास्त्र में भाव को या इसकी परिस्थिति से शून्य करके दशन की प्रवृत्ति हुई वहाँ से वह भ्रान्ति आरम्भ हुई जो आज भाव और विचार का मध्यम के रूप में जितायी दनी है। एक बार जब परिस्थिति का धरातल हटा दिया गया तो भाव बर्षेद का हो गया। इस बर्षेद का भाव पर आशेषा का होना स्वाभाविक था उमका विरोध भी स्वाभाविक था और उसकी अस्वीकृति भी अनिवार्य थी।

बर्षेद का भाव की एक दूसरी प्रतिक्रिया भी हुई जो पश्चिम में जितायी दनी है। विष्णु भाव की वृत्तियाँ का आधार ऐसा ही भाव है जिसका अपना सत्ता गायब है।

पश्चिम का व्यक्तिगत रूप में भी भाव और विचार इसी संपूर्ण रूप में उत्पन्न होते हैं। वह भाव और विचार ही परिस्थिति में संपूर्ण रूप में हैं दूसरी ओर परस्पर

सम्यक् हात है। न उह परिस्थिति में असम्यक् करव दिया जा सकता है और न ही उह एम-दूसरे में बिनबुल अलग करव दिया जा सकता है।

एक दृष्टि से कवि का व्यक्तित्व ही काव्य का आधार प्रतीत होता है। इसलिए काव्य में भाव और विचार दोनों संपृक्त रूप में ही आते हैं। काव्य सामान्य में विगुद्ध भाव या विगुद्ध विचार का ब्यक्तन जहा करता। वर तो एक परिस्थिति का स्थापित करना है। भाव और विचार इसी परिस्थिति में संपृक्त रहते हैं। इसलिए काव्य का आधार परिस्थिति है भाव या विचार नहीं। भाव या विचार दाना में से किसी एक पर बल देने का मनमन्य यह होगा कि काव्य में परिस्थिति का महत्व की अवहनना होगी। मगर यह तो एक तथ्य है कि काव्य का आधार परिस्थिति है। यह एक सत्य और मूल्य भी है। क्योंकि बिना इसकी सिद्धि के काव्य का रूप ही नहीं बनता। जब-जब काव्य में परिस्थिति का स्थान पर भाव या विचार को महत्व दिया गया, तब तब भ्रान्तिमाँ पैदा हुई और चिन्तन पथभ्रष्ट हुआ। विचार और भाव का मूल परिस्थिति है और इसलिए जमे ही हम काव्य का मन्दम में भाव या विचार की चर्चा करते हैं। हम उस परिस्थिति का भी स्वीकार करते हैं जो उनका आधार है। आवश्यकता इस बात की है कि इस परिस्थिति को पूरी सजगता और गहराई का साथ स्वीकार किया जाए, उसे समझा जाए और इस स्वीकृति तथा समझ का घगनन पर रखकर काव्य का देखा और परखा जाए।

अगर मूल्य दृष्टि से विचार किया जाए तो 'काव्य का आधार व्यक्तित्व है' और काव्य का आधार परिस्थिति है। इन दोनों उक्तिमाँ का अर्थ एक ही है। इनमें जो भेद दिखायी देता है उसका कारण यह है कि हम काव्य को दो दृष्टिमाँ में देख रहे हैं। एक कवि के व्यक्तित्व की दृष्टि से, द्वितीय प्रकृति की सत्ता की दृष्टि से। कवि की साधना का माध्यम में व्यक्तित्व और प्रकृति दाना मिलकर एक हो जाते हैं। कवि या कहना चाहिए कि कवि कर्म के प्रवाह में दाना एक ही होते हैं।

मनाविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व का निर्माण दो तत्त्वा में होता है—एक दाय, द्वितीय वातावरण। दाय के बारे में बुनियादी विराध भी है क्योंकि कुछ विचारक इस बात को बिलकुल स्वीकार नहीं करते कि व्यक्ति को जन्म में ही माता पिता के कुछ संस्कार प्राप्त होते हैं। मगर एक बात स्पष्ट है। व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का महत्व सभी स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत मन्दम के लिए यह बात बुनियादी महत्व की है। क्योंकि उससे यह मिथ है कि व्यक्तित्व वातावरण—या जिसका दूसरा नाम सामाजिकता भी है—की एक कृति है। मगर व्यक्तित्व एक अद कृति नहीं है। वह तो एक चेतन संवेदनशील, गत्यात्मक कृति है। इस चेतनता, संवेदनशीलता और गत्यात्मकता में ही

वृत्तिरूप उस व्यक्तित्व का वृत्तित्व रूपायित्व होता है। कला व्यक्तित्व का हा वृत्तित्व है। व्यक्तित्व वातावरण की कृति है और कला व्यक्तित्व की वृत्ति है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कला वृत्ति का वृत्ति है। एक स्तर पर वातावरण वृत्तिवार है और व्यक्तित्व वृत्ति है दूसरे स्तर पर व्यक्तित्व वृत्तिवार है और कला वृत्ति है।

इस प्रकार वृत्तित्व के भी दो रूप हुए।

वृत्तित्व का एक रूप तो वह है जो वातावरण या सामाजिकता और व्यक्तित्व के बीच का व्यापार है और दूसरा रूप वह है जो व्यक्तित्व और कला के बीच का व्यापार है। एक का धरातल सामाजिकता है और फल व्यक्तित्व है दूसरे का धरातल व्यक्तित्व है और फल कला है।

अब सवाल उठता है व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों का प्रकृति का। क्या इन दोनों रूपों की प्रकृति समान है?

आज सब चिन्तन के क्षेत्र में जो विकास हुआ है उस दलित हुए इस प्रश्न का पूरा-पूरा उत्तर नहीं दिया जा सकता। हमें कुछ प्रमुख विषयों का उल्लेख किया जा सकता है।

पहली बात तो यह है कि वृत्तित्व के इन दोनों रूपों के आरम्भ और अन्त आधार और फल का अन्तर है। इसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

दूसरी बात यह है कि सामाजिकता व्यक्तित्व और कला तीनों ही चेतन सत्ताएँ हैं। वह व्यापार जो सामाजिकता और व्यक्तित्व के बीच संचरण करता है वह भी दो चेतन सत्ताओं का मिश्रण है और वह व्यापार जो व्यक्तित्व और कला के बीच संचरण करता है वह भी दो चेतन निर्मितियाँ के बीच कायशील होता है। इसलिए व्यक्तित्व के ये दोनों ही रूप चेतन व्यापार हैं।

यह समझ लेना चाहिए कि चेतन से क्या अभिप्राय है। जो गत्यात्मक है जो अव्ययता और प्रभावशाली है वह चेतन है। चेतन सिर्फ अपने भीतर ही केंद्रित नहीं रहता। वह स्थान नहीं है। जो प्रभाव डालने की शक्ति रखता है वह चेतन कहा जाएगा। जिसकी सत्ता अपने भीतर ही सीमित है जो बाहर की ओर अग्रसर नहीं होता जो किसी दूसरे का स्पर्श नहीं करता वह चेतन नहीं है। इस दृष्टि से सार प्राकृतिक रूप और व्यापार भी चेतन हैं क्योंकि वे गत्यात्मक हैं और प्रभावशाली हैं। इसी दृष्टि से वातावरण या सामाजिकता को भी चेतन कहा गया है क्योंकि कला के क्षेत्र में वह गत्यात्मक है प्रभावशाली है और अव्ययशील है।

पुराने चिन्तन में जब और चेतन का ज्ञान है वह इस प्रश्न में माय नहीं है। क्योंकि व्यवहार में व्यक्ति का चेतन पदार्थ को भी जो पुरानी शक्तियों में बँटा हुआ जाना था, चेतन बना देता है। इसलिए कलाकार

अपनी कृति में जिन परिस्थितियों या तथ्यों का चित्रण करना है वह जड़ नहीं
होना। बरनाकार वास्तव में तथ्य का नहीं। तथ्य की भावना या प्रतीति का
चित्रण करना है। यही युनियानी तत्त्व है प्रतीति। प्रतीति तथ्य का चयन
है। तथ्य का वह रूप है जिसमें बरनाकार के व्यक्तित्व का अंग ममाहित
है। व्यक्ति का चयन अंग और तथ्य का मम्मिनि मनुवन का नाम ही
प्रतीति है। इस मम्मिनि मनुवन में द्वैत नहीं है। प्रतीति नाग डराई है।
तथ्य की वस्तुपरकता का पान और उस पान की व्यक्तित्व प्रतीति
शोभा मितकर जिस डराई की निर्मिति करते हैं वही तथ्य की प्रतीति है।
उदाहरण के लिए 'बोनी बिभावरी जाग रे' में प्रमाद जो न ऊषा का
चित्रण नहीं किया। यह गीत जो ऊषा की प्रतीति की अभिव्यक्ति करना है
कवि न ऊषा को एक विशिष्ट रूप में देना है। ऊषा चमत्ता एक तथ्य है।
एक परिस्थिति है। तबिन कवि में इस तथ्य में विशिष्ट प्रतीति या जगायी।
वह प्रतीति या ऊषा तथ्य में मम्मिनि हाकर एक विशिष्ट रूप या प्रतीति का
जन्म देती है। यह प्रतीति 'ऊषा' नहीं बरन 'ऊषा-नागरी' है जिसने साथ कवि
का अनुभूतियाँ ममृष्ट हैं। इसलिए इस गीत में हम जो विद्यमान दिगायी देना
है वह ऊषा नहीं, ऊषा की प्रतीति है ऊषा की वह भावना है जो कवि की
कृति है। इसीलिए यह भावना या प्रतीति एक अस्पष्ट, अविभाज्य मत्ता है
और इसीलिए अन्तर्गत काव्य का बहिरंग तत्त्व नहीं है। अन्तर्गत और अन्तर्गत
का भेद काव्य की भ्रान्त धारणा पर आधारित है।

काव्य तथा कला में वर्णित प्रत्येक तथ्य या परिस्थिति का यथायथ स्वरूप
गमा नहीं होता है। वह तथ्य या परिस्थिति न हाकर तथ्य या परिस्थिति का
प्रधान होता है। यह प्रतीति परिस्थिति और व्यक्तित्व का अस्पष्ट ममृष्टि है
अविभाज्य अटूट मत्ता है। इसलिए एक दृष्टि में जिसे परिस्थिति कहा जाता
है वही दूसरी दृष्टि से व्यक्तित्व है। यही काव्य का स्वरूप है।

काव्य का स्वरूप की दृष्टि से देखते हुए यह स्पष्ट है कि कवि-जन्म मूल
में एक सामाजिक कर्म है। यदि केवल व्यक्तित्व के बिंदु से चिन्तन आरम्भ
किया जाय तो काव्य कवि का कृति है। प्रथम कृति व्यक्तित्व है। आरंभ
एक सामाजिक कृति है यह मनाविमान से मिट्ट है। इसलिए काव्य एक गमी।
कृति है जो सामाजिक कृति की मचना है। इसलिए उसमें सामाजिकता सम्बार
रूप में ही विद्यमान होती है।

प्रत्येक व्यक्तित्व में सामाजिकता का तत्त्व होता है। इस सामाजिकता के
तत्त्व का स्वरूप में भेद हो सकता है विरोध भी हो सकता है 'नेकिन किमी
भी व्यक्तित्व में सामाजिकता का अभाव नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा
बहना है और आजकल कुछ कवि जोर लेख भी ऐसा कहते हैं तो वह काव्य

क स्वभाव को उसके मूल रूप में नहीं समझता या समझने की कोशिश नहीं करता। जब तक काय और कलाएँ व्यक्तित्व पर आधारित हैं, तब तक उनमें सामाजिकता स्वाभाविक विशेषता के रूप में विद्यमान होगी।

यदि काय पर व्यक्तित्व और परिस्थिति के माध्यम से दिया जाय तो भी यही निष्कर्ष निजता है। काव्य में परिस्थिति का जड़ प्रतिपादन नहीं होता। उसमें ता परिस्थिति की भावना प्रतिपादित होती है और यह भावना व्यक्तित्व और सामाजिकता की संतुलित एकाग्रिणी है। यह स्थिति ऐसी है जो काय में न ता सामाजिकता का निषेध करती है और न व्यक्तित्व का। जिस प्रकार सामाजिकता काय का स्वभाव है उसी प्रकार निजता भी काय का स्वभाव है। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि काय का स्वभाव द्विविध है। काव्य का स्वभाव ता प्रतीति है। और प्रतीति स्वाइ है। इसलिए सामाजिकता और निजता दोनों का जड़ मम्मिलन या अवच्छिन्न संतुलन यही काय का स्वभाव है।

काय के विवेचन के प्रसंग में हम दो विरोधी सी उक्तियाँ दिखायी देती हैं। पहली है काव्य में सामाजिकता हानी चाहिए दूसरी है 'काय में व्यक्तित्व ही प्रधान तत्त्व होना चाहिए। पहली उक्ति के अनुसार सामाजिकता काव्य का मूल्य है दूसरी उक्ति के अनुसार व्यक्तित्व—समाज निरपेक्ष रूप में भी—काय का मूल्य है। वास्तव में ये दोनों ही पक्षियाँ गवन हैं। दोनों ही मूल्य त्याग्य हैं।

जसली और बुनियाती बात ता यह है कि सामाजिकता और व्यक्तित्व दोनों ही काव्य के तत्त्व हैं काय की स्वभावगत विशेषताएँ हैं। जा यह कहना है कि काव्य में सामाजिकता मूल्य है या समाज निरपेक्ष व्यक्तित्व मूल्य है वह काव्य के स्वभाव का नहीं समझता। क्योंकि काव्य के स्वभाव को समझ लेने का बाद तो इन मूल्यों की चर्चा ही बकार हो जाती है। यहाँ ता जो स्वभाव है जो विद्यमान है वही मूल्य भा है। काव्य के स्वभाव के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य व्यक्तित्व का सामाजिक कम है। उसमें व्यक्तित्व और सामाजिकता दोनों का अभिन्न सामरस्य जन्म से ही सिद्ध रहता है।

जब से टी० एम० इलियट ने यह कहा है कि काव्य व्यक्तित्व का पलायन है तब से नम मित्रान की चर्चा हिन्दी में भी सुनायी पड़ने लगी है। विद्वानों में प्रभाव ग्रहण करना गठित नहीं होता। लेकिन प्रभावित होने से पहले यह तो दग लेना चाहिए कि जो बात किसी विद्वानों ने कही है वह सगन भी है या नहीं। यदि दग भावना से उक्त मित्रान पर विचार किया जाता ता मालूम हो जाता कि यह अवगण है सिर्फ शब्दों का वित्ताड है। आलोचना का नाम पर गण का इस प्रकार का वित्ताड अवगण दिनायी देता है और सम्भवतः

सभी नापाया में होगा। जिस वाक्य में इतिवृत्त न व्यक्तित्व में प्रत्यय की बात कही है वही यह भी कहा है कि कविता "अनुभव और संवदना-की अभिव्यक्ति का माध्यम है। यहाँ यह सवाल पड़ा होता है कि वाक्य किसे अनुभव और संवदना का अभिव्यक्ति का माध्यम है? व अनुभव और संवदन किसे है? यदि वह कवि कहता है तो फिर वाक्य के माध्यम में व्यक्तित्व से प्रत्यय तो नहीं हुआ। यह तो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहलाना है। और अगर वह अनुभव आदि कवि के नहीं हैं तो फिर किसे कहेंगे मरने हैं? आनाथ के? पाठन के? किसी के भी नहीं?

यह तो स्पष्ट है कि वाक्य व्यक्ति का सामाजिक रूप है। यह एक तथ्य का रूप है, किसी आदर्श की स्थापना नहीं। यह तो वाक्य का स्वभाव भी है और मूल्य भी। अब सवाल आता है वाक्य के रूप का।

वाक्य का एक विशिष्ट रूप है। जिस प्रकार व्यक्ति के अर्थ सामाजिक रूपों का अपना अपना नाम रूप हुआ करता है उसी प्रकार वाक्य का भी अपना विशेष रूप है। अब हम यह कहा जाता है कि यदि वाक्य का उद्देश्य सामाजिक उन्नति है, तो फिर वह उपदेश बन जाता है। यह बात बिल्कुल गलत है। अपने अपने रूप में सभी ज्ञान-साधनाएँ सामाजिक उन्नति में सहायक होती हैं। धर्मशास्त्र भी यही करता है, भौतिक विज्ञान का भी यही उद्देश्य है और अर्थशास्त्र का भी यही आदर्श है। मगर क्या सामाजिक उन्नति का साधन ज्ञान के कारण यह सब विषय उपदेश बन जाते हैं?

इसी प्रकार अगर यह कहा जाय कि साहित्य में सामाजिक उन्नति होनी है या हा सकती है तो इसमें साहित्य उपदेश नहीं बन जाता। जिस प्रकार अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि का अपना विशिष्ट रूप है विशिष्ट पद्धति और व्यवस्था है उसी प्रकार वाक्य की भी अपनी रीति है अपनी पद्धति व्यवस्था और रचना प्रक्रिया है। जिस प्रकार व्यक्तित्व और सामाजिकता वाक्य के स्वभाव का विशेषण हैं उसी प्रकार उनका एक विशिष्ट रूप भी होता है। यह भी वाक्य का महत्व सामाजिक लक्षण है। इससे किसी मूल्य में इनकार नहीं किया जा सकता। नाटक, कविता कहानी, उपन्यास, निबंध आदि सभी का अपना-अपना रूप है अपना-अपना शिल्प है। इन सबके अपने अपने नियम हैं जिनका सम्बन्ध पद रचना वस्तु याचना चरित्र, तथ्य, छन्द, उद्देश्य आदि में है। ये बातें तो इतनी स्पष्ट हैं कि इन पर अधिक विचार करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार यह निश्चय किया जा सकता है कि कोई रचना अर्थशास्त्र की है या नहीं, उसी प्रकार यह भी निश्चय किया जा सकता है कि कोई रचना वाक्य है या अवाक्य। हम सम्बन्ध में योंही-भी कहनाई यह है कि वाक्य की कई कोटियाँ मानी जाती हैं और

का सामग्री में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस पर विचार करने से एक अर्थ समस्या पर भी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि कवि का दायित्व सिर्फ शब्द का प्रति है और वस। यह जो शब्दवादी सिद्धांत है उसमें भी गहन रूप में समझना आवश्यक है।

पहली बात तो यह है कि शब्द केवल अक्षरों की समष्टि ही नहीं है वरन् उसका अर्थ भी जानना है। काव्य में केवल शब्दों का ही व्यवहार नहीं होता वरन् मायिक शब्दों का व्यवहार जानना है। यदि कोई अर्थ को शब्द में ही समाहित करके देखता है और शब्दों का प्रयोग समाहित अर्थ के लिए भी करता है तो तब किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। चाहे कोई शब्द कहें चाहे साथक शब्द कहें चाहे शब्द और अर्थ कहें बात एक ही है। लेकिन अगर कोई अर्थ निरपेक्ष शब्द की बात करता है या शब्द और अर्थ दोनों को अलग-अलग मानता है तो यह दोनों ही मायिकताओं भ्रान्त है। क्योंकि अर्थ निरपेक्ष शब्द तो हो ही नहीं सकता और न ही शब्द और अर्थ दो अलग-अलग तत्त्व हैं। जो ध्वनियाँ व समूह का ही शब्द मानता है उसके लिए पशुआ और मनुष्या के शब्दों या भाषाओं में अन्तर करने का कोई आधार या कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शब्द ध्वनियाँ का ऐसा समूह है जो साथक है। इसलिए शब्द का अर्थ यही साथक शब्द ही है।

इसमें यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि कवि का दायित्व केवल शब्दों का प्रति है वह इससे इंकार नहीं करना कि कवि का दायित्व अर्थ के प्रति भी है। क्योंकि तब अर्थ के शब्दों की कोई सत्ता ही नहीं। अर्थ के प्रति कवि का दायित्व स्वीकार करने से अनेक ऐसी समस्याएँ निराधार हो जाती हैं जो एक अजीब अमंगल गम्भीरता का विषय बनी हुई हैं।

शब्दों का महत्त्व वाली बात कोई नयी बात नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है— एक शब्द सुप्रयुक्त सम्यग्ज्ञान स्वर्गोत्पत्ति कामधुक् भवति। एक सुप्रयुक्त और सम्यग्ज्ञान शब्द स्वयं तथा लोक में कामधेनु ही है। शब्द निरपेक्ष भाव से कोई मानी नहीं रखना। जब उसका सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग होता है तभी मित्र मिलती है। इसलिए केवल शब्द-माधना निरर्थक है। वास्तविक शब्द-माधना का अर्थ है शब्दों के सम्यक् ज्ञान और सुप्रयोग की माधना। ज्ञान और प्रयोग का सम्बन्ध तो हटकर शब्दों का देखना विनयुक्त असंगत है।

अतएव जब यह कहा जाता है कि कवि-कर्म का रूप शब्द-माधना है तो उसका महा और स्वाभाविक भाव यही है कि कवि-कर्म का रूप व्यापक है—एक शब्दों का सम्यक् ज्ञान दूसरा उसका सम्यक् प्रयोग। ज्ञान के महत्त्व का अर्थ अर्थ का महत्त्व ही है क्योंकि शब्दों का सम्यक् ज्ञान उसका अर्थ शक्ति का ही भाव है। यही मूल गद्गल है सम्यक् का क्या अर्थ है ?

जहाँ तक ज्ञान का सवाल है 'सम्यक्' का अर्थ समयन में विशेष कठिनाई नहीं होती। क्योंकि व्याकरण शेष आदि के आधार पर शब्द का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कवि-कर्म के अन्तर्गत सम्यक् का अर्थ बहुत विस्तृत हो जाता है क्योंकि यहाँ अमिथा ही नहीं, लगना और व्यंजना का प्रयोग भी होता है। इसलिए कवि-कर्म की दृष्टि से सम्यक् ज्ञान पूर्णतः वस्तु परक नहीं है वह व्यक्तिपरक भी है। व्यक्तिपरक ज्ञान का अर्थ यह है कि कवि की भावना और शक्ति के अन्तर्गत शब्द का साधन सबत ही नहीं करता, अर्थ को ध्वनित भी करता है। यहाँ हम शब्द के दूसरे आयाम सम्यक् प्रयोग पर आ जाते हैं। सम्यक् प्रयोग का समयन के लिए एक और कवि की शक्ति के धारण के स्वीकार करना आवश्यक है और दूसरी ओर पाठक की प्रतिधिया पर ध्यान देना भी जरूरी है। कुछ तो प्रयोग के शास्त्रीय नियम हैं। लेकिन कवि और पाठक की सम्मेलन की मर्यादा की स्वीकृति से सम्यक् प्रयोग के अर्थ को समयन में कुछ कठिनाई हो सकती है।

यह स्पष्ट है कि कोई भी लेखक यह दावा नहीं कर सकता कि उनका दायित्व केवल शब्द के प्रति है। सब तो यह है कि लेखक का दायित्व शब्द और अर्थ दोनों के प्रति है, और तुल्य रूप में है। जो दोनों में से किसी एक को प्रधान मानता है वह इस भ्रम का शिकार है कि शब्द और अर्थ समान हैं।

भामह ने शब्द और अर्थ के माहिर को ही वाच्य माना है। वाच्य में शब्द और अर्थ दोनों सहित रूप में, तुल्य रूप में आते हैं। इसलिए भामह का वाच्य लक्षण एकमात्र आदर्श और प्राज्ञ वाच्य लक्षण है। पंडितराज ने जो शब्द और अर्थ दोनों की स्वीकृति का स्पष्टन किया है वह सगत नहीं है। इस अमरगति का कारण यह है कि वे शब्द और अर्थ को तात्त्विक रूप में भिन्न मानकर चलते हैं। यह स्थिति तर्क-सम्मत नहीं है। उनके तर्कों का आधार भी शब्दों का प्रयोग है, शब्दों का सम्यक् प्रयोग नहीं। इसलिए मामाच्य व्यक्ति की सामाच्य उक्तियाँ के आधार पर उद्घाटन अपने विशिष्ट मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। सामाच्य शब्द प्रयोग के आधार पर भी तत्कालीन का एक रूप आधारित है। उसी मूल अमरगति भी यही है कि वह अपना दायित्व केवल शब्द के प्रति मानता है।

जब कवियाँ न यह कहा कि उनका दायित्व शब्दों के प्रति है तो कुछ कवियाँ न जो वाच्य के बार में लिपिगणित लिखी है उन्हें और तथाकथित आलाचका के लेखों का पढ़ने में यह प्रतीत होता है कि वे भी अपना दायित्व केवल शब्दों के प्रति अथ निरूपण शब्दों के प्रति मानते हैं।

शब्दों के प्रयोग में अभावधानी एक ऐसा दोष है जो आज के हिन्दी के लेखों में व्यापक रूप में पाया जाता है। मुदर, थोड़ा भवदनशास्त्र उल्टा

महान, गौरवशाली, अथ वी लय आदि एस शब्द है जिनका प्रयोग प्रायः बड़ी असावधानी के साथ किया जाता है बिना सोचे समझे किया जाता है। उदाहरण के लिए 'श्रेष्ठ' शब्द को हाँ लीजिए। 'रामचरितमानस' भी 'श्रेष्ठ' काय है, सूरसागर भी 'श्रेष्ठ' काय है और रामायणी भी 'श्रेष्ठ' काय है। लेकिन क्या तीनों का श्रेष्ठ एक ही है? क्या तीनों में कोई अंतर नहीं? स्पष्ट है कि तीनों के 'श्रेष्ठ' में बहुत अंतर है। यही बात सभी 'मूल्यवाची' शब्दों के प्रयोग के बारे में है। इसलिए उचित यही है कि लेखक मूल्यवाची शब्दों का प्रयोग करने के उपरान्त उनका प्रयोग करे अथवा उनका प्रयोग नही किया जाना चाहिए। भाषा के प्रयोग में बहुत अधिक सावधानी और सतर्कता की आवश्यकता है।

आलोचना की भाषा का प्रधान आधार अभिधा है। उसमें लक्षणा और व्यङ्गना का प्रयोग वर्जित नहीं है। प्रमाणानुसार अनुकूल 'वनि' या प्रभाव के लिए इन शक्तियों का उपयोग भी किया जा सकता है। मगर उनका प्रयोग सीमित और विशिष्ट ही है। प्रधान रूप से आलोचना वाचक शब्दों का आधार पर चलनी चाहिए। इसीलिए आलोचना का रचना के धरातल तक ले जाना बहुत कठिन है।

दूसरी बात यह है कि आलोचना की शब्दावली में कुछ मूल शब्द होने हैं जिनका सम्बन्ध मूल्य या प्रत्ययों से होता है। आलोचक का पहला कार्य यह है कि वह इन शब्दों का शब्द रूप में ही ग्रन्थ में न कर बल्कि उनके अर्थों को समझे और समझाये। बिना मूल शब्दों के अर्थ की पूर्ण तरह से समझे हुए जो कुछ लिखा जायेगा वह आलोचना के अन्तर्गत नहीं माना जायेगा।

जब आलोचक इन मूल शब्दों के अर्थ की पूर्ण तरह से समझने का प्रयास करेगा तो उसमें यह अनुभव होगा कि इस काम के लिए उस अर्थ विषयों की शरण में जाना पड़ेगा। उस प्रकार दर्शनशास्त्र नीतिशास्त्र समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र आदि के प्रत्ययों को व्यवस्त करनेवाले शब्दों की पूर्ण तरह से समझने के लिए उन विषयों की गहनता से अवधारणा है। यदि आलोचक शब्दों का प्रयोग समझदागी के साथ करे तो अन्त में सम्मम्य और विचारों का आग निगधार हो जायेगा।

नयी आलोचना में यह प्रयास किया जाता है कि काव्य को बहिष्कृत और अध्ययन में अलग करके रखा जाय। उसमें यह देखने का प्रयास किया नहीं जाता कि कविता की रचना करते समय कवि के मन की क्या स्थिति थी। रचना का पाठ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है उसका भी कोई मन्त्र नहीं है। मुख्य कार्य तो यह है कि जो कृति हमारे सामने है उसकी विशेषताओं का उद्घाटन किया जाये। इस प्रकार यह काव्य का एक विशिष्ट अध्ययन है जो

रचना प्रक्रिया और पाठन की प्रतिक्रिया दोनों का निपट करती है। दम प्रवार स्पष्ट है कि यह अध्ययन एकांगी और अपूण है। यही कारण है कि इस प्रकार के अध्ययन का आधार पर जिन सिद्धान्तों या निष्कर्षों का चर्चा की जाता है वह एकांगी, अपूण और अद्वैत है। उनका मूल और मर्म सत्य मान बैठने में भ्रान्तियाँ का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

उन प्रकार के अध्ययन से एक सामंता अवश्य हुआ। काव्यवस्तु की मता को अपमानित महत्त्व मिला और काव्य की शारीरिकता का मर्मज्ञान का एक प्रयास हुआ। नयी आलोचना का आधार काव्य का वस्तुपरक अध्ययन ही है। काव्य का वस्तुपरक अध्ययन विलकुल नयी बात नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में रीति और वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रतिष्ठापका—वामन और कुल्लुक ने काव्य का शुद्ध वस्तुपरक रीति में अध्ययन किया है। वामन ने जिन गद्द गुणों और अथगुणों की चर्चा की है वह नयी आलोचना की सम्पत्ति भी हैं।

रीति सिद्धान्त के अंतर्गत दो प्रकार के गुणों की चर्चा की गयी है— शब्द गुण और अर्थ गुण। गद्द गुणों का जो विवेचन है वह आज की भाषा के विवेचन की रीति के अनुरूप ही है। भाषा या शब्द शिल्प का जैसा विवेचन नयी आलोचना में दिखायी देता है, कुछ वैसा ही विवेचन वामन ने शब्द गुणों के अंतर्गत किया है। उदाहरण के लिए ओज शब्द गुण का संगणन है गाढ़ वचन, ममादि शब्द गुण में आरोह अवरोह क्रम रहता है समता शब्द गुण में पद एकरम होता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य के शब्दों के, उनकी योजना तथा नाद-सौन्दर्य आदि के सूक्ष्म विवेचन का प्रयास किया था।

इसी प्रकार कुल्लुक ने वक्र-वक्रता पर पूर्वोक्त वक्रता और पद पराद्ध वक्रता में वक्रों उपसर्गों और शब्दों के सौन्दर्य या चमत्कार या वैशिष्ट्य के विवेचन का प्रयास किया है।

अब रहा विषय का मवाल।

आज काव्य के बारे में जितने भी विचार दिखायी देते हैं उन सबका आधार आज की जीवन-व्यवस्था है। यहाँ तक कि जा जीवन और मूल्यों के निपट की बात भी करत हैं उनका आधार भी सामाजिक स्थिति ही है। या या कहिए कि सामाजिक स्थिति और उसकी विशिष्ट प्रतिक्रिया जो सजग मन में होती है वह ही काव्य सम्बन्धी विविध मनो के रूप में सामने आती हैं। इसलिए काव्य के बारे में प्रस्तुत किये गये सभी विचारों को और विशेषकर इधर के नये विचारों को सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध करके ही देखने में सही दिशाएँ सामने आ सकती हैं।

इस प्रकार व विवेचन के माग में एक बड़ी दिक्कत है। कुछ विचारक काय को काव्य के रूप में सिर्फ काय के रूप में मन के हमी हैं। उनका दृष्ट विश्वास है कि काय का अपनी स्वतंत्र सत्ता है और यदि उसका विवेचन करते समय कायतर विषय की चर्चा की जायेगी तो यह काय के साथ अयाय होगा। उनके विचार में पुराने जमाने में काय के साथ याय नहीं हुआ। काव्य चिन्तक न काव्य का जय विषयो के साथ सम्बद्ध करके दवा और इसलिए व काव्य के निजी स्वरूप को समझन में असमर्थ रहे। यीलिए काय तथा काय विचार का सहज विकास बाधित रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से लखन पर मालूम हाता है कि पुराने आचार्यों ने काव्य पर विचार करते समय उस साक्ष के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। भरत न लाकवत्त के अनुकरण की बात की है और उधर प्लेटो तथा अरस्तू ने काय को प्रकृति की अनुकृति माना है। इस प्रकार काव्य पर विचार करते समय सबसे पहली बात जो सामने आती है वह है लोक का महत्व लाकवत्त या आश गणराज्य की सत्ता। इसलिए यह सम्भावना हा सकती है कि काय के निजी रूप के विवेचन की ओर अप्रति ध्यान न दिया जा सके।

पश्चिम में तो ऐसा हुआ भी। प्लेटो ने जा कहा कि काय प्रकृति की अनुकृति है ता इस बात का कोई अस्वीकार न कर सका। अरस्तू न भी काय का अनुकृति ही माना। अतएव यह है कि प्लेटो का विवेचन मूल सत्ता या मूल शक्ति में शुरू होता है और अरस्तू का विवेचन दृश्य मृष्टि में। मरय क्या है? अरस्तू इस पर विचार नहीं करने। वह इस बात का आवश्यक ही नहीं मानते।

लेकिन अगर ध्यान में लाया जाय तो प्लेटो के विवेचन में सगति अधिक है। उनका विवेचन बुनियादी धरातल से आरम्भ हाता है। उन्होंने जड को पक्कन की शक्ति की है जबकि अरस्तू उम गहराई तक नहीं जाते उस गहराई तक जाना जरूर ही नहीं समझने। जतना ही नहा उन्होंने बुनियादी सच्चाई की बात ही नहा की उसकी चर्चा तक नहीं की। यह यात अजीब-भी लगती है। स्वाम तीर पर जब अरस्तू से पहले काय पर बुनियादी दृष्टि में विचार हो चुका था ता अरस्तू को इस प्रयास के बाग में कुछ कहना चाहिए था। वह उम स्वाकार न करत उसका विरोध हा करने मगर काय के मूलभूत विवेचन की प्रक्रिया के बाध में कुछ ता कहत। कारण यह है कि अरस्तू मूलम प्रिय नहीं थे और यही उनका सबसे बड़ी कमजोरी है।

अरस्तू की इस स्थूलता न शनानिया तक पश्चिम पर राज किया है। आगिनुस का मूलमना भा उपनिहित ही रही। इसका कारण यह है कि मध्यकाल में पश्चिम का चिन्तन स्थूल धरातल पर ही रहा है। उसमें सूक्ष्मता और गहराई नहीं है। वह ऊपरी धरातल पर ही कायशास है। धार्मिक सत्ता की

सूक्ष्मता व्यवहार के जीवन में कटी गई। यही कारण है कि माहियत सूक्ष्म और माहियत चिन्तन में सूक्ष्मता बहुत दूर में जाया। पश्चिम में काव्य और आनाचना में गहराई लमी आयी जब उस पर नये मिर में बुनियादी तौर पर साक्षात् विचार गया। और इस सीमा का श्रवण अस्मू का है।

अगर अस्मू का वक्ता प्लेटो और सागिनुम वाली धारा आगे बढ़ती तो स्थिति दूसरी होती। प्लेटो की दृष्टि अस्मू की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और उपयोगी है। इसा आधुनिक काल में जहाँ पश्चिम में नये मिर में साक्षर की शक्ति का जन्म हुआ तो। विचार ही महत्वपूर्ण और शक्तिशाली मिड हुआ जो उस सूक्ष्म और बुनियादी दृष्टि पर आधारित था जो प्लेटो में मिलती है।

भारतीय परम्परा में काव्य और शास्त्र के विकास का आधार भिन्न रहा। सबसे पहला तो भग्न न ही यह बात कि नाट्यशास्त्र का निर्माण चारा वक्ता के आधार पर हुआ है। चारा वक्ता समग्र जीवन के प्रतीक और प्रतिनिधि रहें हैं। इसलिए नाट्य समग्र जीवन के साथ सम्बद्ध है सभी मायना नाट्यशास्त्र में व्यक्त है। भरत ने साक्षर के अनुकरण पर भाषा बना दिया है। इसलिए भाग्यवत् में न सिर्फ नाटक का जन्म जीवन के बीच हुआ, बल्कि नाट्यशास्त्र में नाटक के इस सामाजिक आधार की स्पष्ट स्वीकृति भी मिली है।

भरत ने साक्षर के महत्व का स्वीकार तो किया, मगर नाटक की सत्ता को शिल्प के सूक्ष्मता का अस्वीकार नहीं किया। नाट्य शिल्प पर भी उन्होंने पूर्ण पूर्ण ध्यान दिया और बिम्बार में नाटक के विविध प्रयोगों का विवरण दिया। लेकिन भरत की सबसे महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा नाटक की आत्मा—रस की प्रतिष्ठा है। उन्होंने बिना रस के नाटक का निरर्थक माना है। लेकिन असल में महत्व इस बात का नहीं है। वास्तविक महत्व तो इस बात का है कि रस है क्या ?

भरत ने इस मिडाल के साथ हिली में अग्रिम जाना आया है। भरत का रस महत्वपूर्ण मापक नहीं है वह सहज के आस्वाद का अनुभव मूल्य है। उसकी सत्ता तो नाटक के रूप में है। रस एक निमित्त है, एक मूर्ति है जो नाटक में स्थित है। इसलिए रस नाटक का निष्पन्न मूल्य है। इस रूप में भरत ने नाटक का महत्व नाक पर नहीं निष्पन्न मूल्य पर, रस पर आधारित माना है। रस ही नाटक को मापक बनाना है।

भामह दण्डा आदि अन्तर्गतवादी आचार्यों ने काव्य के निष्पन्न मूल्य—अन्तर्गत का विवरण दिया है। उनका ध्यान नाक की अपेक्षा शिल्प पर अधिक केन्द्रित रहा। इसलिए उन्होंने काव्य के रूप और उसके विविध घटक तत्त्वा का व्याख्या का प्रयास किया। अन्तर्गतवादियों का चिन्तन—भामह से कुन्तक

तब का चित्तन स्पात्मक आलोचना के अंतर्गत ही जाता है। इन सभी दृष्टि काय के रूप पर केन्द्रित है काय के वशिष्ठ व उन्घाटन का प्रयास करती है।

लेकिन उनमें साथ की उपस्था नहीं हुई। भरत ने ता बाद में रस, अथ और राम तीनों की सिद्धि मानी थी। भाग्य एक कदम और आगे बढ़े और उन्होंने साथ का भी इसमें जोड़ दिया। इस प्रकार काय समग्र जीवन का ही प्रतीक बन गया। जो जीवा के पुष्पाथ से वही काय में भी स्वीकार कर लिये गए। उस धारा के एक छोर पर भाग्य है ता दूसरे छोर पर विश्वनाथ। बीच के रसवादी आचार्यों ने रस पर अधिक बल दिया। लेकिन विश्वनाथ ने रस के साथ-साथ चतुर्वर्ग को भी स्वीकार किया और इस प्रकार रस को आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए भी काय को समग्र जीवन के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया।

इन सभी आचार्यों के द्वारा के अध्ययन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय कायशास्त्र में काय शिल्प और जीवन को व्यापक सम्बद्ध संतुलित रूप में स्वीकार करने का प्रयास किया गया। एक तरफ तो वन से लेकर महाकाय तक काय के सूक्ष्मतम अंग में लेकर मूलतम अंग की विशेषताओं की मामला की गयी और दूसरी ओर चतुर्वर्ग और रस के रूप में समस्त जीवन का लेकिन तथा लोकोत्तर दोनों रूपों में स्वीकार किया गया है। एतिहासिक दृष्टि से यह प्रयास अपनी सूक्ष्मता में काय और व्यापकता में अप्रतिम होने के कारण कितना चमत्कारपूर्ण है, इसे वही समस्त सबना है जिसने भारतीय कायशास्त्र का पढ़ने और समझने की कोशिश की हो।

आज हिन्दी में एक अभ्यासपूर्ण स्थिति दिखायी देती है। बहुत से लोग ने प्राचीन को पढ़ने की कोशिश है नहा की लेकिन प्राचीन के खण्डन में व सब ने आगे हैं। मैं यह नहीं मानता कि प्राचीन का खण्डन नहा करना चाहिए। लेकिन बिना पत्र बिना समझे खण्डन करने में क्या तुक है यह समय में नहीं आता। अगर उसे कोई समझता है ता बनाने की कृपा करे।

रस का विरोध करते हुए साथ उसने आत्मवाणी आधार को चुनौती देती है। ठीक है। मगर रस के बारे में अर्थ मत भा तो हैं। इसका नाटक का, काय का एक शिष्टमूल्य भी तो माना गया है। रस बात से चौकन की जरूरत नहीं। जरूरत है कुछ पढ़ने की।

भट्टनायक और अभिनव ने रस का आत्मवाणी व्याख्या की। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने इस स्वीकार किया। हिन्दी-आलोचना का पश्चिम रस की रंगी धारा से रहा। लेकिन रस की एक

पूर्ववर्ती धारा भी है जिसमें रस का शिल्पगत एवं तत्त्व या अलंकार माना गया है।
एक सवाल सामने आता है। क्या रस और चतुर्वर्ग दोनों को एक साथ स्वीकार किया जा सकता है ?

आचार्यों ने ज्ञान का एक साथ स्वीकार तो किया है मगर दोनों का तुल्य महत्त्व का नहीं माना। विश्वनाथ ने रस का वाक्य की आत्मा माना है। मम्मट और पंडितराज ने चतुर्वर्ग का उल्लेख ही नहीं किया। इसलिए इस समस्या पर सावधाना से विचार करना चाहिए।

भट्टनाथक आदि आचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द सहादर माना और उसने भाग्य को ही विवर्चन का केन्द्र बनाया। उनकी दृष्टि सहृदय में वर्धित रही। इसलिए उन्होंने रस के आस्वाद्य का मूलम विवर्णन किया और उसी को मूलभूत मूल्य के रूप में स्वीकार किया।

लेकिन उसी आत्मवादी रस पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। रस एक मृष्टि भी है और आभिनव रस की मृष्टि करनेवाला भी आत्मा है—कवि की आत्मा। इसलिए रस आत्मा की पुनर्मृष्टि है। इस प्रकार रस आत्मा की वह पुनर्मृष्टि है जो वाक्य के माध्यम से सहृदय में व्यक्त होती है। वाक्य आत्मा की मूल एकता का व्यक्त करने का साधन है। बहसव्य ने उनका मानव स्वभाव मन के धरातल तक ही व्यक्त माना था। लेकिन उनका मानव स्वभाव मन के धरातल तक ही पहुँचता है। अभिनव ने आत्मा का मानव-स्वभाव के रूप में स्वीकार किया है। आत्मा मूल रूप से एक और असंख्य है। वाक्य मानव के आत्मभाव को व्यक्त करता है। इस सिद्धि के लिए पहली आवश्यकता का यह है कि कवि आत्मभाव में स्थित हो। जब तक वह इस धरातल का साक्षात् अनुभव नहीं करेगा तब तक वह उस व्यक्त करने में भी सफल नहीं हो सकता। सहृदय के रत्यादि आवरणों के भंग करने की शक्ति से सम्पन्न वाक्य की रचना करने से पहले कवि का रत्यादि के अतिरिक्त अन्य सभी आवरणों का उच्छिन्न करना होगा। कवि के आत्मभाव का सिद्धि आत्मवादिया के रस विवेचन में अंतर्भूत ही सम्पन्न हो चाहिए।

रस रत्यादि के माध्यम से व्यक्त ब्रह्मानन्द है। इस बात को स्वीकार करने के साथ-साथ रस का ब्रह्मानन्द के तुल्य रूप में स्वीकार करने का सोच भी दिसायी देता है। अगर ध्यान से देखा जाय तो यह सचमुच सोच ही है। कारण यह है कि जहाँ रत्यादि स्थायी भाव हैं जहाँ सत्त्वगुण के बंधन का स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है जहाँ रजस तथा तमस को उच्छिन्न नहीं तिरोभूत माना जाता है ऐसी अवस्था ब्रह्मानन्द के तुल्य बस मानी जा सकती है ? स्पष्ट है आत्मवादिया की यह भावना सगत और अस्वीकार्य है।

उपयुक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि चतुर्वर्ग और रस का एक साथ स्वीकार करने का आधार क्या है। जब यह मान लिया गया कि रस आत्मानन्द ही है तो माध की सिद्धि से इसका साम्य स्पष्ट है। इसलिए रस का स्वीकृति में माध की स्वीकृति का आभास मिलता है। रहा धर्म अब और काम, तो उसकी सिद्धि की चर्चा कायशास्त्रियाँ न की ही है। काय द्वारा माध की सिद्धि ही कठिन थी। सो रस द्वारा सहज हो गयी। अब समस्या तो यह उठती है कि भामह ने किस आधार पर माध का स्वीकार किया था ?

रस सिद्धांत का 'यापक' यथाय दृष्टि में परीक्षण करने से दो महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं।

पहली तो यह कि प्राचीन भारत में काय चिन्तन जीवन तथा संस्कृति की समग्रता में धीरे-धीरे विकसित हुआ था। जब धर्म और प्रधान मूल्य थे तो काय में उनकी प्रतिष्ठा हुई। जब आत्मा या ब्रह्म को परममूल्य के रूप में स्वीकार किया गया तो यह प्रयास हुआ कि काय का भी उससे सम्बद्ध किया जाए। आठवीं शती में शंकराचार्य ने ब्रह्म को परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और फिर उसके प्रभाव से शैवों ने दशन के साथ-साथ काय में भी ब्रह्मास्वाद का प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। वह काय जो भरत के युग में लौकिक रचना के रूप में स्वीकृत था—क्याकि तब युग चेतना इसी धरातल पर आसीन था—भट्टनायक और अभिनव और का लाकात्तर कला के रूप में स्थापित हुआ यह तत्त्वालीन युग चेतना के अनुरूप ही था। भरत ने नाटक को लोक से सम्बद्ध किया भट्टनायक आदि ने आत्मा तथा ब्रह्म से। जो पहले लौकिक था वही अलौकिक माना जाने लगा। काय वही था। उसकी व्याख्या और मूल्य में अन्तर आ गया। इसलिए जो लोक का था वह कुछ विशिष्ट लोगों का सम्पत्ति बन गया। जो लाकगत सत्ता थी वह वगगत सत्ता बन गयी।

सद्धान्तिक रूप से यह बात सत्य है मगर इसका व्यावहारिक परिणाम भिन्न हुआ भिन्न नहीं विपरीत हुआ।

निवृत्ति और नानवाद के प्रभाव से सामान्य जनता लोक से विरक्त हो रही थी। लौकिकता पर विश्वास हटता जा रहा था। क्षणिकवाद, दुर्मवाद, मूल्यवाद अन्तर्वाद आदि के प्रभाव से मयाय लौकिक जीवन और उसका मूल्य पर अन्याय हो रही थी। लोक का गाथा बहुरे वह सभी कुछ हीन माना जाने लगा जो लौकिक था। सामान्य समाज में यह हीनता 'याप्त' हो रही थी।

आत्मवादी आचार्यों ने यह मित्र करने का प्रयास किया कि जीवन का जो परम मूल्य है उसकी प्रगति काय के द्वारा भी हो सकती है। सिद्धांत की दृष्टि से भट्टनायक और नान की सत्यता पर विश्वास करने थे। एक प्रकार से उनका